मनुष्य क्या है?

जेम्स पॉल गी

मनुष्य क्या है? / लेखक: जेम्स पॉल गी

मुफ़्त वितरण हेतु ई-बुक 2026

बाल विज्ञान खोजशाला समिति
बेरीनाग (उत्तराखण्ड)

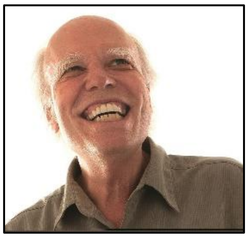

जेम्स पॉल गी

प्रो. जेम्स पॉल गी एक प्रतिष्ठित अमेरिकी भाषाविद् और शिक्षाविद् हैं। उन्होंने मनोभाषाविज्ञान, डिस्कोर्स एनालिसिस, समाजभाषाविज्ञान, द्विभाषी शिक्षा और साक्षरता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वह एरिज़ोना स्टेट यूनिवर्सिटी में "मैरी लू फुल्टन प्रेसिडेंशियल प्रोफेसर ऑफ लिटरेसी स्टडीज़" के पद पर रहे और नेशनल एकेडमी ऑफ एजुकेशन के सदस्य भी रहे। 2019 में वह सेवानिवृत्त हुए। अपने अंतिम वर्षों में वे इस मूल प्रश्न पर केंद्रित रहे – "मनुष्य क्या है?" जो उनके समस्त अकादमिक जीवन की निचोड़ है।

यह सवाल मुझे रातों को जगाए रखता है – मनुष्य आखिर है क्या?

मैं 71 साल का हूँ और एक लंबे अकादमिक सफर के आखिरी पड़ाव पर खड़ा हूँ। इस सफर में मैंने भाषा को कई कोणों से समझने की कोशिश की– उसकी बनावट (व्याकरण), उसे समझने की प्रक्रिया (मनोभाषाविज्ञान), और रोज़मर्रा की ज़िंदगी में उसका इस्तेमाल। मैंने यह भी देखा कि भावनाएँ, समाज, संस्थाएँ और राजनीति – ये सब मिलकर भाषा और सीखने को कैसे आकार देते हैं। और हाँ, वीडियो गेम भी इस खोज का हिस्सा रहे! हाल के वर्षों में मैं इस बात से खासा प्रभावित हुआ हूँ कि हमारा जीवविज्ञान और हमारी सामाजिकता एक-दूसरे से कितनी गहराई से जुड़े हैं।

मैंने ढेर सारी किताबें और शोध-पत्र लिखे– कुछ आम पाठकों के लिए, कुछ विद्वानों के लिए। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बढ़ी, एक अजीब-सी बात हुई – मुझे लगने लगा कि मैं जितना जानता था, उससे कम जानता हूँ। धीरे-धीरे समझ आया कि अकादमिक होना "जवाब पा लेना" नहीं है, बल्कि सवाल पूछते रहने की एक अनवरत यात्रा है – जिसमें मंज़िल नहीं, यात्रा ही सब कुछ है।

कुछ इसे "विज्ञान" कहते हैं, कुछ इसे "जाँचा-परखा जीवन जीना"। मगर आज बहुत से लोग न विज्ञान की परवाह करते हैं, न आत्म-मंथन की। शायद इसलिए कि उन्हें धन और रुतबा ज़्यादा ज़रूरी लगता है, या शायद इसलिए कि ज़िंदगी ने उन्हें बस किसी तरह टिके रहने की मोहलत दी है। फिर भी मन में एक सवाल उठता है – अगर ताकतवर और अमीर लोग थोड़ा और आत्म-चिंतन करते, तो क्या बाकी लोगों को भी वह मौका मिलता? क्या हम सब थोड़े और इंसान होते?

मनुष्य की मूर्खता ने मुझे हमेशा हैरान किया है – और मैं खुद को इससे अलग नहीं करता। बुढ़ापे में यह हैरानी और गहरी हो गई है, क्योंकि अब मैं साफ देख सकता हूँ कि हम खुद को "होमो सेपियन्स" – यानी "बुद्धिमान मनुष्य" कहते हुए गर्व से फूले नहीं समाते, और साथ ही खुद को और इस धरती के बाकी जीवन को धीरे-धीरे विनाश की ओर धकेलते जा रहे हैं।

संस्थाओं की मूर्खता तो और भी विचित्र है। वहाँ हर कोई जानता है कि चीज़ें कितनी बेतुकी हैं, आपस में बात भी करते हैं – फिर भी वही सब चलता रहता है। इंसानों को एक छत के नीचे इकट्ठा कर देने से वे अपने आप समझदार नहीं हो जाते।

हाँ, हमने बड़े-बड़े काम किए हैं – इससे इनकार नहीं। लेकिन ज़रा गौर करें:

हमने हवाई जहाज़ बनाए – और उनसे बमबारी भी की। विशाल पुल और बाँध खड़े किए – और उन्हें तब तक नज़रअंदाज़ किया जब तक वे टूट कर लोगों की जान नहीं ले गए। एंटीबायोटिक्स से लाखों ज़िंदगियाँ बचाईं – फिर उन्हें मुर्गियों और मवेशियों को मोटा करने में इस्तेमाल किया, और नतीजा? दवाओं को मात देने वाले सुपरबग। सस्ता, आसानी से उपलब्ध खाना बनाया – जो धीरे-धीरे हमारे शरीर को खोखला कर रहा है। सबके लिए शिक्षा का दरवाज़ा खोला– फिर भी पढ़े-लिखे लोग जैविक विकास को नकारते हैं, मानते हैं कि पृथ्वी सिर्फ 6000 साल पुरानी है, और "फ्लैट अर्थ" सम्मेलनों में भीड़
उमड़ती है।

हम धर्म के उन मतभेदों पर लड़ते हैं जो इतने बारीक हैं कि अगर कोई ईश्वर है, तो वह भी शायद पूछे – "क्या इतनी छोटी बात पर?" हम तभी अच्छा महसूस करते हैं जब किसी से "बेहतर" हों। हम सोचते हैं कि त्वचा का रंग इंसान की गहराई को तय करता है – लेकिन बिल्ली के फर के रंग को लेकर ऐसा कोई दावा नहीं करते। पूरे के पूरे समाज नहीं चाहते कि लड़कियाँ पैदा हों। हम औरतों को कमतर मानते हैं – मगर हर मर्द अपनी माँ से बेइंतहा प्यार करता है।

सबसे गरीब और सबसे अमीर– दोनों बच्चों के शरीर में तनाव के रसायन सबसे ज़्यादा होते हैं। गरीब बच्चों में इसलिए, क्योंकि गरीबी हर दिन उन पर चोट करती है। अमीर बच्चों में इसलिए, क्योंकि उनके माता-पिता उन्हें बच्चे नहीं, निवेश समझते हैं। गरीब बस्तियों में अस्थमा इसलिए फैला है क्योंकि हमने सारा प्रदूषण वहीं ठेल दिया है। अमीर बच्चों में अस्थमा इसलिए है क्योंकि उनका वातावरण इतना "साफ" है कि उनकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता को पूरी तरह से विकसित होने का कभी मौक़ा ही नहीं मिला।

दशकों तक यह समझने की कोशिश करने के बाद कि लोग कैसे बेहतर तरीके से बात कर सकते हैं, सीख सकते हैं, एक-दूसरे के लिए और दुनिया के लिए कुछ अच्छा कर सकते हैं – मुझे एक सीधी-सी बात समझ आई: हम नहीं जानते कि हम किस तरह के प्राणी हैं। और इसीलिए हमारे स्कूल, संस्थाएँ और समाज अक्सर लड़खड़ाते हैं। वे सब इंसान के बारे में उन्हीं धुंधली, भ्रामक धारणाओं पर टिके हैं, जिन्हें हमने कभी ठीक से परखा ही नहीं।

जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि मनुष्य वास्तव में क्या है – हम आगे नहीं बढ़ सकते। जैसे कोई गधे की फितरत जाने बिना उसे स्वस्थ और खुश नहीं रख सकता, वैसे ही खुद की फितरत जाने बिना हम खुद को – और एक-दूसरे को – वह नहीं दे सकते जिसकी हमें ज़रूरत है।

यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि विज्ञान में नई रोशनी ठीक उस वक्त आई जब मुझे लगा कि मेरा पूरा सफर अधूरा रह जाएगा अगर मैंने इस सवाल का सामना नहीं किया। विकासवादी जीव विज्ञान में हो रहा नया काम हमारे मस्तिष्क, शरीर और समाज – और समूचे जीवन– की प्रकृति को नए सिरे से समझा रहा है। और सबसे ज़रूरी बात – यह दिखा रहा है कि ये सब एक-दूसरे से कितनी गहराई से जुड़े हैं।

बेशक, मैं पूरा जवाब नहीं जानता। विज्ञान भी अभी पूरा जवाब नहीं जानता। लेकिन अब हम इतना तो जानते हैं कि सवाल पूछना शुरू करें – और ईमानदारी से उसका जवाब ढूँढने की कोशिश करें।

मैं यह सवाल पूछता हूँ क्योंकि जाने से पहले इसका जवाब खोजने की एक कोशिश तो करनी है। मेरे पास कोई पक्का उत्तर नहीं है, और मैं यह दावा भी नहीं करता। मुझे बस यह उम्मीद है कि मेरी यह कोशिश आपको भी यही सवाल खुद से पूछने पर मजबूर करे।

मुझे सच में यकीन है – अगर हम इंसान खुद को वैसा जान और मान लें जैसे हम वाकई हैं, तो यह दुनिया थोड़ी बेहतर हो सकती है।

(लेखक की पुस्तक **"What Is a Human? Language, Mind, and Culture"** की भूमिका से साभार)